एकात्मकता के साये में पली-पुसी हमारी संस्कृति

☐ डॉ. भागचन्द भास्कर, डी. लिट्

संस्कृति व्यक्ति, समुदाय और राष्ट्र की एक अजीब नब्ज हुआ करती है जिसकी धड़कन को देख-समझकर उसकी त्रैकालिक स्थिति का अन्दाज लग जाता है। हमारी भारतीय संस्कृति में उतार-चढ़ाव और उत्थान-पतन बहुत आये पर सांस्कृतिक एकता कभी विच्छिन्न नहीं हो सकी। उसमें एकात्मकता के स्वर सदैव मुखरित होते रहे। इतिहास के उदयकाल से लेकर आज तक इस तथ्यात्मक वैशिष्ट्य को हम सहेजे हुए हैं।

राष्ट्र एक सुन्दर मनमोहक शरीर है। उसके अनेक अंगोपांग हैं जिनकी प्रकृति और विषय भिन्न-भिन्न हैं। अपनी-अपनी सीमा से उनका बंधाव है, लगाव है और इसी लगाव से उनमें परस्पर संघर्ष भी होते है। क्रोध, ईर्ष्या आदि विकारभावों से उनमें विकारभाव भी उत्पन्न होते हैं। इन सबके बावजूद वे आत्मा से पृथक् नहीं हो पाते। आत्मा के नाम पर उनमें एकात्मकता सदैव बनी रहती है। यह एक ऐसी अन्विति है जिसमें बाह्यतत्व भी चिपक जाते हैं, रम जाते हैं और एक ही तत्त्व में समाहित हो जाते हैं।

हमारे राष्ट्र का अस्तित्व एकात्मकता की स्नेहिल शृंखला से जुड़ा हुआ है। राष्ट्रीयता का जागरण उसके विकास का प्राथमिक चरण है। जन-जन में शान्ति, सह-अस्तित्व और अहिंसात्मकता उसका चरम बिन्दु है। विविधता के पली-पुसी एकता सौजन्य और सौहार्द को जन्म देती हुई 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' का हृदयहारी पाठ पढ़ाती है।

भाषा, धर्म, जाति और प्रादेशिकता एकता को विखण्डित करने के प्रबल कारण होते हैं। इनकी संकीर्णता से बंधा व्यक्ति न्याय और मानवता की दीवालों को लांघकर हिंसक, क्रूर और आततायी हो जाता है। उसकी दृष्टि स्वार्थपरता के जहर से दूषित हो जाती है, हेयोपादेय के विवेक से मुक्त हो जाती है और सीमितता की चकाचौंध में अँधया जाती है।

भाषा अभिव्यक्ति का एक स्वतन्त्र और सक्षम साधन है, साध्य नहीं है। जहाँ वह साध्य हो जाता है वहाँ आसक्तियों और संकीर्णताओं के घेरे में मनोमालिन्य, झगड़े-फसाद और कलह की चिनगारियाँ विषाद उगलने लगती हैं, चेतना समाप्त हो जाती है, होश गायब हो जाता है, मात्र बच जाता है विरोध, वैमनस्य और प्रादेशिकता की सड़ी-गली भावनाएँ।

एक वर्गविशेष धर्म को अफीम मानता आया है। उसका दर्शन जो भी हो, पर यह तथ्य इतिहास के पन्नों से छिपा नहीं है कि जब भी धार्मिक भावनाएँ उभरीं, अल्पसंख्यकों पर मुसीबत आयी और धर्म के नाम पर उन्हें बुरी तरह कुचला गया। धर्म का यदि सुपाक न हुआ हो तो वह विष से भी बदतर सिद्ध होता है। धर्म के अन्तस्तल तक पहुँचना सरल नहीं होता। तथाकथित धार्मिक और राजनीतिक नेता जब धर्म के मुखौटे को ओढ़कर जनसमुदाय की भावनाओं को

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उभारकर अपना उल्लू सीधा करते हैं तो वस्तुतः वे किसी देशद्रोही से कम नहीं हैं। भूसे से भरा उनका दिमाग और उगल भी क्या सकता है? धर्म की गली सँकरी होती नहीं, बना दी जाती है और उसे इतनी सँकरी बना देते हैं हमारे अहंमन्य नेता कि उसमें दूसरा कोई प्रवेश कर ही नहीं पाता। प्रवेश के अभाव में खून-खच्चर की आशंकाएँ बढ़ जाती हैं, संयम की सारी अर्गलाएँ टूट जाती हैं और अमानवीय भावनाओं का अनधिकृत प्रवेश हो जाता है।

हमारी सारी राजनीति का केन्द्रबिन्दु आज धर्म और जाति बन गया है। धर्मनिरपेक्षता की बात मात्र धोखे की टट्टी हो गई है। शैक्षणिक संस्थाएँ भी इस कराल गरल से बच नहीं पा रही हैं। कुर्सी पाने और बचाने की प्रवृत्ति ने हमारी नैतिकता पर कठोर पदाघात किया है। उसने नयी पीढ़ी के खून में अजीबोगरीब मानसिकता भर दी है, संस्कार दूषित कर दिये हैं और निकम्मेपन और कठमुल्लेपन को जन्म दिया है। आज भले और ईमानदार आदमी का जीवन दूभर होता जा रहा है। उसकी कराहती आवाज को सुनने वाला तो दूर, सान्त्वना देने वाला भी नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में हमारा देश कहाँ जायगा, अनबुझी पहेली बन गई है।

इतिहास के भूले-बिसरे पन्नों को यदि हम खोलकर पढ़ें तो यह तथ्य उद्घाटित हुए देर नहीं लगेगी कि हमारी भारतीय संस्कृति का धवल आंचल कभी मैला नहीं हुआ। आर्यकाल से लेकर अभी तक वर्णव्यवस्था की मूल आत्मा जब भी अपने पथ से भटकी, समाज में क्रूरता के दर्शन अवश्य हुए पर उस स्वार्थपरता और अहंमन्यता को वास्तविकता का चोला नहीं माना जा सकता। वह तो वस्तुतः ऐसी सड़ांध रही है, जिसमें गर्वीली जातीयता और धार्मिक कट्टरता पनपी और न जाने कितने असहाय वर्गों को वैतरणी का विषपान करना पड़ा। ऐसे अपुनीत, असामाजिक और अमानवीय दूषित कदमों को भारतीय संस्कृति का अंग नहीं कहा जा सकता। वह तो वस्तुतः विकृत मानसिकता की उपज रही है। आर्य-अनार्य की भेदकरेखा के पीछे भी ऐसे ही गर्हित तत्त्वों का हाथ रहा है। सरस्वती नदी का तट ऋग्वैदिक मन्त्रों से पवित्र हुआ, पर धर्म के नाम पर पशु-हिंसा से उसका पुनीत जल रक्तरंजित होने से भी नहीं बच सका। ऋग्वैदिक-कालीन नैतिक आदर्शों की व्याख्या उत्तरकाल में बदल देनी पड़ी। मर्यादा पुरुषोत्तम राम और यदुवंशी भगवान् कृष्ण ब्राह्मण और श्रमण संस्कृतियों की बीच की सुदृढ़ कड़ियां बन गए और भारतीय संस्कृति का समन्वयात्मक मूल स्वर और अधिक मिठास लेकर गुञ्जित होने लगा।

ब्राह्मण परम्परा की अनुश्रुतियों में लिच्छवि, मल्ल, मोरिय आदि जातियों को व्रात्य कहा गया है। व्रात्य जन्मतः क्षत्रिय और आर्यजाति के थे, जो मूलतः मध्यदेश के पूर्व या उत्तर-पश्चिम में रहते थे। उनकी भाषा प्राकृत थी और वेशभूषा अपरिष्कृत थी। वे चैत्यों की पूजा करते थे। आर्य द्रविड़ों नाग और विद्याधर जाति से भी उनके सम्बन्ध थे। वर्णसंकरता उनमें बनी हुई थी। फिर भी अपने को वे क्षत्रिय मानते थे और श्रमण संस्कृति के पुजारी थे। उनके वैदिकयज्ञ विधान और जातिवाद के विरोधक प्रखर स्वर में आध्यात्मिकता और अहिंसात्मकता का दृष्टिकोण प्रमुख रूप लिये हुए था। औपनिषदिक विचारधारा का उदय व्रात्यसंस्कृति का ही परिणाम है जहाँ वैदिक यज्ञों को फूटी नख की उपमा दी गई है।

श्रमण व्यवस्था ने उस एकात्मकता को अच्छी-तरह परखा था और संजोया था अपने विचारों में। जैनाचार्यों और तीर्थंकरों ने समता, पुरुषार्थ और स्वावलंबन को प्रमुखता देकर जीवन-क्षेत्र को एक नया आयाम दिया जिसे महावीर और बुद्ध जैसे महामानवीय व्यक्तित्वों ने आत्मानुभूति के माध्यम से पुष्पित-फलित किया। श्रमणसंस्कृति ने वैदिक संस्कृति में धोखे-धाखे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से आयी विकृत परंपराओं के विरोध में अपनी तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की और अनायास ही समाज का नवीनीकरण और स्थितिकरण कर दिया। इस समाज की मूल निधि चारित्रिक पवित्रता, अहिंसा-दृढ़ता थी जिसे उसने थाती मानकर कठोर झंझावातों में भी संभालकर रखा। विभज्यवाद और अनेकान्तवाद के माध्यम से समन्वय और एकात्मकता के लिए जो अथक प्रयत्न जैनधर्म ने किया है वह निश्चित ही अनुपम माना जायगा। बौद्धधर्म में तो कालान्तर में विकृतियाँ आ भी गईं पर जैनधर्म ने चरित्र के नाम पर कभी कोई समझौता नहीं किया।

अब मात्र संस्कृत ही साहित्यकारों की अभिव्यक्ति का साधन नहीं था। पालि-प्राकृत-अपभ्रंश जैसी लोकबोलियों ने भी जनमानस की चेतना को नये स्वर दिये और साहित्यसृजन का नया प्रांगण खुल गया। इस समूचे साहित्य में एकात्मकता का जितना सुन्दर ताना-वाना हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है। अर्हन्तों और बोधिसत्वों की वाणी ने जीवन-प्रासाद को जितना मनोरम और धवल बनाया उतनी ही उनके प्रति आत्मीयता जाग्रत होती रही। फलतः हर क्षेत्र में उनका अतुल योगदान सामने आया। भावात्मक एकता की सृजनशक्ति भी यहीं से विकसित हुई।

इसी बीच मगध साम्राज्य का उदय हुआ। छोटे-मोटे साम्राज्य उसमें सम्मिलित हो गये पर उत्तर-पश्चिमी भारत विखण्डित होने लगा। विदेशी आक्रामकों ने इस दुर्बलता का भरपूर लाभ उठाया और सिकन्दर जैसे यूनानी योद्धा ने भारत जैसी वसुन्धरा को विजित करने का संकल्प किया। मालव- क्षुद्रक जैसी परस्पर विरोधी जातियों ने और पुरु जैसे समर्थ राजा ने उसका डटकर मुकाबला किया। फलतः उसे वापिस जाना पड़ा। इन विदेशी आक्रमणों का कोई विशेष गंभीर प्रभाव भारतीय समाज पर नहीं पड़ा। हाँ, चन्द्रगुप्त मौर्य को राजनीतिक स्थिरता और एकता स्थापित करने के लिए पृष्ठभूमि अवश्य तैयार हो गई। वह कुशल प्रशासक और सही राष्ट्रनिर्माता सम्राट् था जिसने भद्रबाहु के साथ दक्षिण प्रदेश की यात्रा की और समाधिमरणपूर्वक शरीर त्याग किया।

अशोक (268-69 ई. पू.) तो किसी एक संप्रदाय का होते हुए भी सम्प्रतिपत्तिवादी था। उसकी असाम्प्रदायिक मनोवृत्ति, धार्मिक सहिष्णुता, अहिंसा, सद्धर्मप्रचार, सार्वभौमिकता, लोकधर्मपरिपालन आदि जैसे तत्त्व अशोक के मांगलिक कार्यों में अन्यतम थे। ब्राह्मण और श्रमणवर्ग बड़े प्रेमपूर्वक रहते थे। उनमें धर्मपरायणता और एकात्मकता कूट-कूटकर भरी हुई थी।

मौर्यसाम्राज्य के पतन के बाद पुष्यमित्र शुंग ने ब्राह्मण साम्राज्य की स्थापना की। आन्ध्र-सातवाहन आये। जिन्होंने वैदिक संस्कृति का अच्छा खासा विकास किया। प्राकृत भाषा को विशेष आश्रय मिला। साथ ही अन्य धर्मों और भाषाओं का भी विकास होता रहा। कलिंगराज खारवेल ने इस विकास-श्रृंखला को और भी आगे बढ़ाया। इसके बाद शक, यवन, पह्लव और कुषाण आये। वे भी भारतीयता के रंग में समा गये। मेनान्डर, कनिष्क आदि का निदर्शन हमारे समक्ष है ही। अश्वघोष, नागार्जुन, हाल, घटसेनाचार्य आदि जैसे विद्वानों ने साहित्यिक क्षेत्र में पदार्पण किया। मूर्तिकला के क्षेत्र में गान्धारकला ने एक नयी दृष्टि-सृष्टि दी। मथुरा कला का भी अपने ढंग का विकास हुआ जहाँ जैन-बौद्ध-वैदिक तीनों सम्प्रदाय समान रूप से विकास करते रहे।

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुप्तकाल को हमारे इतिहास का स्वर्णयुग माना जाता है। मौर्यसाम्राज्य के पतन के बाद जो विघटन की प्रक्रिया प्रारंभ हुई थी वह गुप्तयुग में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना से समाप्तप्राय हो गई। इस काल में सुदृढ़ सांस्कृतिक एकता ने चरम विकास किया। संस्कृत का विशेष प्रचार हुआ। महाकवि कालिदास, शूद्रक, सुबन्धु, आर्यभट्ट, वराहमिहिर दिङ्नाग, वसुबन्धु, पूज्यपाद, सिद्धसेन आदि जैसे प्रखर विद्वान् इस क्षेत्र में आये और उन सभी ने समन्वयवादिता पर जोर दिया। इसी युग में देवर्धिगणि द्वारा ४५३ ई. में वल्लभी में जैनागमों का संकलन हुआ। वैष्णव, जैन और बौद्ध तीनों ही धर्म सद्भावपूर्वक रहते रहे। गुप्त नरेश सर्वधर्मसहिष्णु थे। कला के सभी क्षेत्रों ने इस काल में पर्याप्त विकास किया।

गुप्तकाल के बाद राजनीतिक विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गई, हूणों का आक्रमण हुआ और मैत्रिकों और मौखरियों के राज्यों ने राजनीतिक प्रभुता पाने का असफल प्रयत्न किया। इसी पृष्ठभूमि में थानेश्वर का वर्धनवंश सामने आया। हर्ष को पुलकेसिन् द्वितीय, शशांक, गोड़, ओढ़, कोंगद आदि अनेक राजाओं से युद्ध करना पड़ा। वह प्राचीन भारत का अंतिम हिन्दू सम्राट् हो या न हो पर कन्नौज की बौद्ध परिषद् और प्रयाग का सर्वधार्मिक सम्मेलन, उसकी धार्मिक सहिष्णुता का सुंदर निदर्शन है। उसने श्रमण और ब्राह्मण दोनों परम्पराओं को विकास करने के पूरे अवसर दिये, वह विद्वानों का प्रश्रयदाता तो था ही, स्वयं भी कुशल संस्कृत-ग्रंथकार था।

हर्ष की मृत्यु (६४६ ईस्वी) के उपरांत उत्तर भारत में छोटे-छोटे राज्यों का उदय हुआ, कन्नौज के यशोवर्मन, मिहिरभोज, गहड़वाल, कश्मीर का ललितादित्य, बंगाल के पाल, सेन, चन्देल, परमार, कलचुरि आदि कितने ही छोटे-मोटे राजा हुए जिन्होंने हमारी संस्कृति को सुरक्षित ही नहीं रखा, बल्कि उसे बहुत कुछ दिया भी है। बाकाटक, राष्ट्रकूट आदि राजवंशों ने भी सांस्कृतिक एकता के यज्ञ में अपना योगदान दिया।

इस समूचे काल में जातीय व्यवस्था दृढ़तर अवश्य होती रही, अनेक जातियों का उदय भी होता रहा पर उनमें बिखराब अधिक नहीं आया। राजाओं ने व्यक्तिगत धर्म का पालन करते हुए भी सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता का भाव रखा।

ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान शुंगकाल से प्रारंभ हुआ और लगातार वह सशक्त होता गया। पूर्व मध्ययुग में पाल, चेदि, चंदेल आदि राजाओं ने शैव संप्रदाय को पनपाया तो बंगाल से लेकर मध्य तथा पूर्वी-उत्तरप्रदेश तथा दक्षिणापथ में वैष्णवमत का अधिक बोलवाला रहा। इसी काल में शक्ति और नाथसंप्रदाय भी उदित हुए, ब्रह्मा-विष्णु-महेश, गणेश, स्कन्द, सूर्य, अष्ट दिक्पाल आदि की पूजा का प्रचलन बढ़ा और अवतारवाद का खूब प्रचार-प्रसार हुआ जिसका प्रभाव समग्र कला और संस्कृति पर पड़ा।

बौद्धधर्म ने पूर्व मध्यकाल में ह्रास की ओर कदम बढ़ाये। चचनामे के अनुसार सिन्ध में बौद्धधर्म काफी प्रभावक स्थिति में रहा। बंगाल के पालवंश ने भी इसे मजबूत आश्रय दिया। पर मौलिकता से हट जाने पर और तान्त्रिक विचारधारा के प्रवेश कर जाने पर उसका प्रभाव क्षतिग्रस्त हो गया। विदेशों में अवश्य उसने अपनी लोकप्रियता हासिल की।

पूर्वमध्यकाल में जैनधर्म अपेक्षाकृत अधिक अच्छी स्थिति में रहा। विशेषत: दक्षिण भारत में उसे अच्छा राज्याश्रय मिला। शायद यह इसलिए हुआ कि जैनधर्म वैदिकधर्म के समीप अधिक आता गया। कला के क्षेत्र में उसका यह रूप आसानी से देखा जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनधर्म प्रारम्भ से ही वस्तुतः एकात्मकता का पक्षधर रहा है। उसका अनेकान्तवाद का सिद्धान्त अहिंसा की पृष्ठभूमि में एकात्मकता को ही पुष्ट करता रहा है, यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। हिंसा के विरोध में अभिव्यक्त अपने ओजस्वी और प्रभावक विचारों से जैनाचार्यों ने एक ओर जहाँ दूसरों के दुःखों को दूर करने का प्रयत्न किया वहीं मानव-मानव के बीच पनप रहे अन्तर्द्वन्द्वों को समाप्त करने का भी मार्ग प्रशस्त किया। समन्तभद्र ने उसी को ही सर्वोदयवाद कहा था। हरिभद्र और हेमचन्द्र ने इसी के स्वर को नया आयाम दिया था। प्रारम्भ से लेकर अभी तक का सारा जन साहित्य एकात्मकता की प्रतिष्ठा करने में ही लगा रहा है। इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं जिसमें जैनधर्मावलम्बियों ने किसी पर आक्रमण किया है और एकात्मकता को धक्का लगाया है। भारतीय संस्कृति के विकास में उसका यह अनन्य योगदान है जिसे किसी भी कीमत पर झुठलाया नहीं जा सकता।

विशेष दृष्टव्य तो यह है कि विभिन्न संप्रदायों के उदित हो जाने के बावजूद धार्मिक सहिष्णुता कम नहीं हुई। राजाओं ने अपने मन्तव्य पालन करते हुए भी दूसरे धर्मों के आयतनों को पर्याप्त दान दिया। इसका फल यह हुआ कि हमारी एकता कभी मर नहीं सकी बल्कि उसमें नये खून का संचार होता रहा। धर्म और संस्कृति के आदान-प्रदान ने देश में विविधता के साथ ही एकता का रूप बनाये रखा।

इसी बीच मुस्लिम आक्रमण हुए। उनके भयंकर और निर्दयतापूर्ण अत्याचारों से समूचा उत्तरापथ आक्रान्त हो गया। गुजरात के वघेले, देवगिरि के यादवों और द्वारसमुद्र के होयसलों आदि का भी अन्त सा हो गया पर विजयनगर राज्य का स्वातन्त्र्य प्रेम वे नष्ट नहीं कर सके। उसकी राजनीति, समदर्शिता और सदाशयता की स्थापना करने वाले संगम सरदार के पांच वीर पुत्र थे जिन्होंने (३४६ ई. में) विजयनगर राज्य की स्थापना की और हरिहरराय उसका प्रथम राजा बना। इस राज्य में जैन, वैष्णव, लिंगायत, वीरशैव, सद्शैव सभी शान्ति से रहते थे उनकी उदारता और धर्मसहिष्णुता के कारण। बहमानियों और मुहम्मदों के साथ उसके और उसके उत्तराधिकारियों के युद्ध होते रहे पर प्रजा में कभी वैमनस्य उत्पन्न नहीं हुआ। यदि हुआ भी तो राजा की दूरदर्शिता के कारण शान्त कर दिया गया। जैनों और वैष्णवों के बीच हुए विवाद में बुक्काराय का निष्पक्ष निर्णय इसका उदाहरण है। सकल वर्णाश्रमधर्मरक्षक, सर्वधर्मसंरक्षक जैसे विरुद्ध धारण करने में राजा लोग अपना सम्मान मानते थे। कृष्णदेव की धर्मनिरपेक्षता तो प्रसिद्ध है ही। बाद में मुसलमानों ने विजयनगर साम्राज्य को बुरी तरह से बर्बाद किया।

इसके बाद लगातार मुस्लिम आक्रमण होते रहे। महमूद गजनवी एक धर्मान्ध विध्वंसक एवं बर्बर लुटेरा था ही। मुहम्मद गौरी, मुहम्मदविन बख्तियार खिलजी आदि मुस्लिम आक्रमणकारियों ने बेरहमी से मन्दिरों को लूटा और पुस्तकालय जलाये। एकसूत्रता के अभाव के कारण हिन्दू राजे परास्त होते रहे। हठात् धर्मपरिवर्तन कराना मुस्लिम प्रशासकों की धर्मान्धता का निदर्शन है। पर निजामुद्दीन औलिया, शेख सलीम चिश्ती आदि कुछ ऐसे भी मुस्लिम थे जिन्होंने इस्लाम को भारतीयता के रंग में रंग दिया। मलिक मुहम्मद जायसी जैसे सूफी कवियों ने प्रेमगाथाओं का सृजन किया और अमीर खुसरो जैसे कवि ने हिन्दी-संस्कृत-उर्दू मिश्रित भाषा के प्रचलन का प्रयास किया। इसे उनकी एकात्मकता का उदाहरण कह सकते हैं।

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी काल में निर्गुणभक्ति और आत्ममार्ग का भी प्रचार हुआ। अनेक समाज-सुधार आन्दोलन हुए पूर्वोत्तर भारत में स्वामी रामानन्द, सन्त कबीर, गुरु नानक, महाराष्ट्र में ज्ञानदेव, नामदेव, तुकाराम, ज्ञानेश्वर, बंगाल में चैतन्यदेव, गुजरात में लोकाशाह और बुन्देलखण्ड में तारण स्वामी जैसे सन्त हुए जिन्होंने एकात्मकता के स्वर में नयी जीवन-पद्धति दी। यह दार्शनिक और सामाजिक चिन्तन का परिणाम था।

दर्शन अध्यात्म चेतना का निष्पन्द है, स्वानुभूति के निकष पर फलित खरा स्वर्ण है, विचारों की गहाराई से उद्‌भूत अमूल्य रत्न है। वह चेतना को जाग्रत करने का सुन्दरतम साधन है। दर्शन के शाश्वत मूल्य कालखण्ड से परे होते हैं। उसके सामयिक तत्त्व परिस्थितियों और सीमाओं से टक्करें लेते हुए लुढ़कते पत्थर के समान अपने स्वरूप को बदलते रहते हैं। शाश्वत मूल्यों से शून्य दर्शन काल के कराल चपेटों में अपने अस्तित्व को खो देता है।

जैनदर्शन सामयिक कम और शाश्वत अधिक रहा है। जैनेतर दर्शनों की अपेक्षा जितनी कम सामयिकता जैनधर्म और दर्शन में रही है, उतनी अन्यत्र दिखाई नहीं देती। इसी तथ्य ने उसे अच्छी तरह गौरवपूर्वक जीवित रखा है। शाश्वत मूल्यों की अपरिवर्तनीयता मानव मूल्यों के साथ संबद्ध रहती है। सामयिक मूल्य सीमित, क्षणिक तथा परिस्थितिजन्य रहते हैं। जैनदर्शन मानवतावादी है। उसके सिद्धान्त कभी भी असामयिक और कुण्ठित नहीं हुए। तीर्थंकर महावीर ने धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और बौद्धिक क्षेत्र में जो जबर्दस्त क्रान्ति की वह चैतन्यमूलक रही है जिसमें पूर्ण अहिंसा, समता और एकात्मता के संगीत भी स्वर प्रतिष्ठित हुए हैं। मूलतः निवृत्तिपरक होते हुए भी प्रवृत्ति का यथोचित समन्वय करना उसकी अन्यतम विशेषता रही है। सभी धर्म और सम्प्रदायों तथा वर्गों को बिना किसी भेदभाव के एक साथ एक फलक पर समन्वित रूप से बैठाने का अभूतपूर्व कार्य जैनसंस्कृति का अभेद्य अंग रहा है। यही उसका प्राण है, यही उसकी चेतना है।

इस प्रकार भारतीय इतिहास और संस्कृति में देशी-विदेशी आक्रमण-प्रत्याक्रमण चलते रहे फिर भी सांस्कृतिक पतन से हम काफ़ी बचे रहे। जैनों में अनेकान्तवाद, बौद्धों के विभज्यवाद, शंकर के मायावाद, रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद, माधवाचार्य के द्वैतवाद और निम्बार्क के द्वैताद्वैतवाद ने एक ओर आध्यात्मिकता को प्रोत्साहन दिया तो दूसरी ओर सामाजिक क्षेत्र में एकात्मकता को प्रस्थापित करने का प्रयत्न किया। अपवादात्मक स्थितियों को छोड़कर यह तथ्य साधारणतः सभी को स्वीकार्य होगा कि हमारी भारतीय संस्कृति का मूल स्वर एक राष्ट्र का रहा है। विघटन हुए भी तो परिवार के समान ही हुए। राष्ट्र से पृथक् होने की बात कभी नहीं आयी। एकात्मकता के साये में पली-पुसी हमारी संस्कृति आध्यात्मिकता-सिक्त संस्कृति है, अहिंसाप्रधान संस्कृति है जो मानवीय कल्याण को पहला स्थान देती है। यही उसकी विशेषता है।

—अध्यक्ष, पालि-प्राकृत विभाग
नागपुर विश्वविद्यालय
न्यू एक्सटेंशन एरिया
सदर नागपुर-४४०००

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org